लेओनीद अन्द्रेयेव

बस एक याद

१९वीं सदी के अंत और २०वीं के आरम्भ के जाने-माने लेखक लेओनीद निकोलायेविच अन्द्रेयेव (१८७१—१९१९) ने विशेषत: बच्चों के लिए तो कुछ नहीं लिखा। परंतु आज तक बच्चों के पढ़ने योग्य पुस्तकों की सूची में उनकी दो कहानियां 'बेर्गामोत और गेरास्का' (१८९८) तथा 'बस एक याद' (१८९९) अवश्य शामिल की जाती हैं।

बचपन में अन्द्रेयेव को फ़ेनिमोर कूपर, माइन रीड, गुस्ताव ऐमार और ऐडगर पो की पुस्तकें सबसे ज़्यादा पसंद थीं। 'बस एक याद' कहानी रेड इंडियनों के जीवन पर रोचक उपन्यास या जासूसी कहानी जैसी तो बिल्कुल नहीं है। लेकिन इसे बच्चों के पठन-पाठन में केवल इसलिए ही स्थान प्राप्त नहीं है कि इसका नायक एक बालक है, बल्कि इसलिए भी कि जीवन की साधारण सी घटना को लेखक ने असाधारण ढंग से प्रस्तुत किया है। एक मामूली सी बात है—शहरी लड़का कुछ दिन देहाती इलाक़े में रहता है, पर उसके लिए यह यात्रा बिल्कुल ही अनोखी यात्रा होती है, जिसमें वह एक बिल्कुल नई, खुशियों से भरपूर दुनिया देखता है। इसीलिए कहानी का अंत और भी दुखद लगता है—लड़के को फिर उसी कठोर, नीरस, निर्मम जीवन में लौटना पड़ता है।

हां, यह कहना भी सही नहीं होगा कि कहानी पढ़कर पाठक के मन में पेत्का नामक लड़के के प्रति करुणा ही जागती है। पेत्का को आज़ादी और सुख के जो दो क्षण मिलते हैं, उनकी याद उसके मन में सदा के लिए बस जाती है और पाठक के हृदय पर भी वे अपनी छाप छोड़ जाते हैं।

नाई ओसिप अब्रामविच ग्राहक की छाती पर मैला सा कपड़ा ठीक करता, उंगलियों से उसे कालर के पीछे घुसेड़ता और तीखी आवाज़ में चिल्लाता :

"छोकरे, पानी!"

शीशे में अपनी शक्ल निहारता ग्राहक देखता कि उसकी ठोड़ी पर एक और फुंसी निकल आई है और वह मुंह लटकाकर नज़र मोड़ लेता, जो सीधी छोटे से, दुबले-पतले हाथ पर पड़ती। यह हाथ कहीं एक ओर से बढ़ता और शीशे के पास टीन की कटोरी में गर्म पानी रख देता। जब ग्राहक नज़रें ऊपर उठाता तो उसे नाई का अक्स दिखाई देता – अजीब, टेढ़ा सा और दिखती उसकी धमकी भरी नज़र, जो वह नीचे किसी के सिर पर तेज़ी से डालता। साथ में नाई के होंठो में बुदबुदाहट की हरकत होती। बुदबुदाहट सुनाई तो न देती, पर उसका मतलब साफ़ होता। अगर ख़ुद नाई ओसिप अब्रामविच की जगह प्रकोपी या मिख़ाइला नाम का कोई शागिर्द उसकी हजामत कर रहा होता, तो बुदबुदाहट ज़ोरदार होती और उसमें अनिश्चित सी धमकी होती :
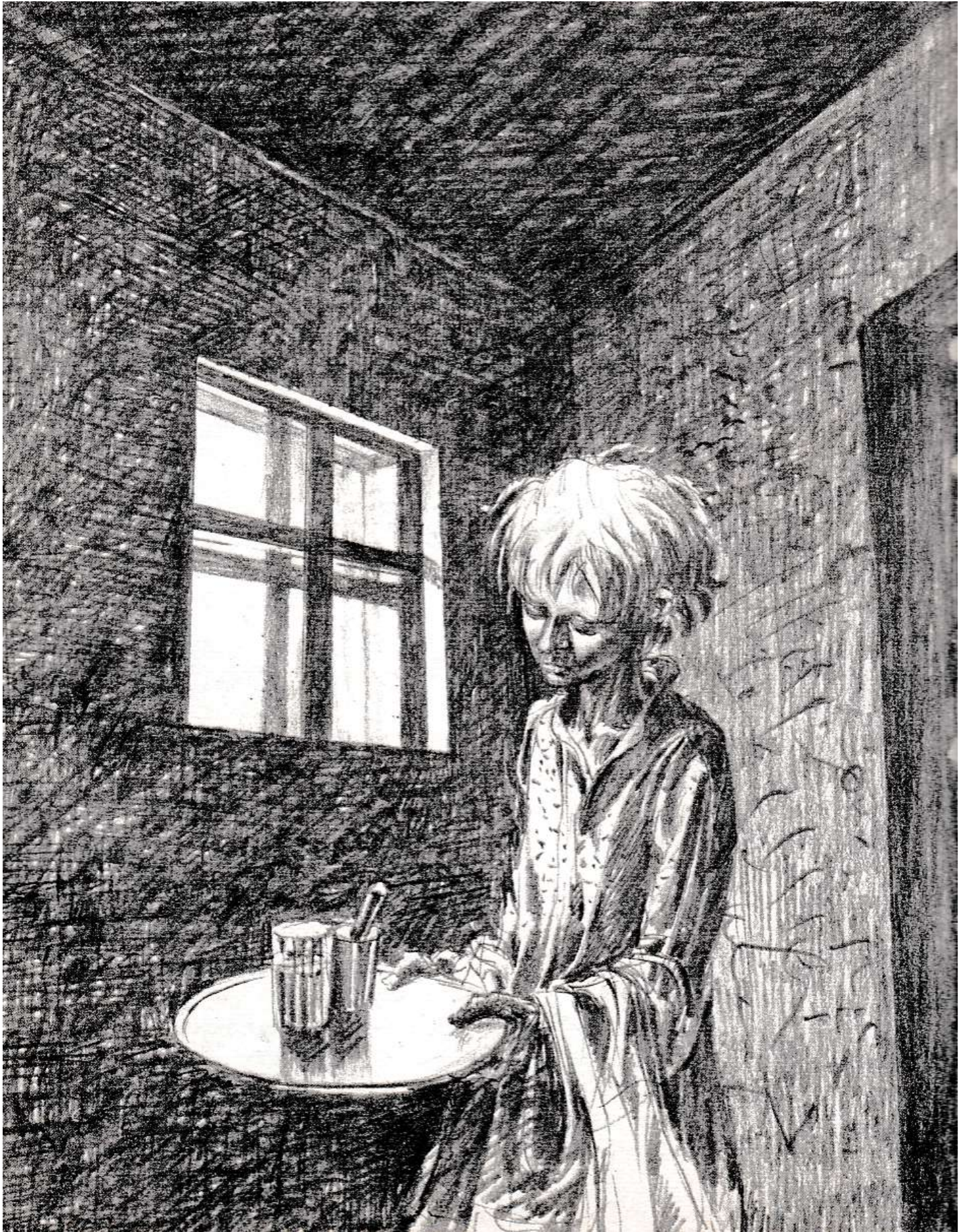
"ज़रा ठहर, बच्चू!"

इसका मतलब होता कि छोकरे ने पानी जल्दी से नहीं दिया और उसे सज़ा मिलेगी।

"इसी लायक़ हैं ये," ग्राहक सोचता और गर्दन टेढ़ी करके अपनी नाक के ऐन पास पसीने से लथपथ बड़े से हाथ को निहारने लगता। हाथ की तीन उंगलियां फैली होतीं और बाक़ी दो चिपचिपी व खुशबू मारती उंगलियां ग्राहक के गाल और ठोड़ी का कोमल स्पर्श करती होतीं, जबकि भोथरा उस्तरा अप्रिय सी सरसराहट के साथ साबुन की झाग और दाढ़ी के सख़्त बाल साफ़ करता।

जिस लड़के को सबसे ज़्यादा डांट पड़ती थी उसका नाम था पेत्का और वह नाई की दुकान में काम करनेवालों में सबसे छोटा था। दूसरा छोकरा निकोल्का पेत्का से तीन साल बड़ा था और जल्दी ही शागिर्द बनने वाला था। अब भी, जब कोई मामूली सा ग्राहक दुकान में आता और शागिर्दों को मालिक की अनुपस्थिति में काम करने में आलस लगता, तो वे निकोल्का को हजामत करने को भेज देते और यह देखकर हंसते कि उसे भारी-भरकम जमादार की टांड के बाल देखने के लिए पंजों के बल खड़ा होना पड़ता है। कभी-कभी ग्राहक चीखता-चिल्लाता कि उसके बाल ख़राब कर दिए और तब शागिर्द भी निकोल्का पर चिल्लाते। लेकिन ऐसा बहुत कम ही होता था, सो वह बड़ों की तरह बनता फिरता था: सिगरेट पीता था, दांत भींचकर थूकता था, गंदी-गंदी गालियां देता था। पेत्का के सामने वह इस बात की भी डींग मारता था कि उसने वोद्का पी है, पर यह शायद झूठ ही था। शागिर्दों के साथ वह पड़ोस की गली में ज़ोरदार लड़ाई देखने जाता था और जब वहां से हंसता-खेलता लौटता था, तो ओसिप अब्रामविच उसे दो थप्पड़ रसीद करता था: एक गाल पर एक।

पेत्का दस बरस का था। वह न सिगरेट पीता था और न वोद्का ही, गालियां भी नहीं देता था, हालांकि उसे बहुत सी गालियां आती थीं और इन सब मामलों में उसे अपने साथी से ईर्ष्या होती थी।

जब दुकान में कोई ग्राहक न होता तो पेत्का और निकोल्का बैठकर बातें करते। ऐसे मौक़ों पर निकोल्का सदा भला बन जाता था और "छोकरे" को यह समझाता था कि कौन सी काट के बाल कैसे काटे जाते हैं।

कभी-कभी वे दोनों खिड़की पर बैठ जाते, जहां मोम का बना औरत का आधा बुत रखा हुआ था। बुत के गाल गुलाबी थे। यहां बैठकर वे बुल्वार की ओर ताकते रहते। बुल्वार पर सुबह से ही ज़िंदगी की चहल-पहल शुरू हो जाती थी। बुल्वार के पेड़ धूल से धूसर पड़ गए थे, तेज़ धूप में उनकी एक पत्ती तक न हिलती और उनसे जो छाया पड़ती वह भी धूसर ही होती, उसमें ज़रा भी शीतलता न होती। सभी बेंचों पर औरतें, मर्द बैठे होते – मैले-कुचैले, अजीब से कपड़े पहने हुए, औरतों के सिर पर कोई रूमाल नहीं, मर्दों के सिर पर कोई टोपी नहीं, मानो वे यहीं रहते हों और उनका कोई दूसरा घर ही न हो। अक्सर किसी का झबरीला सिर बेबस ही कंधे पर लुढ़क जाता और शरीर अनचाहे ही सोने को जगह ढूंढ़ता, तीसरे दर्जे की सवारी की तरह, जिसने एक सीट पर बैठे-बैठे ही हज़ारों किलोमीटर का सफ़र किया हो, पर लेटने को कोई जगह न थी। पगडंडियों पर नीली वर्दी पहने चौकीदार डंडा उठाए घूमता रहता था और देखता था कि कोई बेंच पर न लेट जाए, या घास पर न लंबा पड़ जाए, जो तेज़ धूप से सूख गई थी, पर फिर भी इतनी नरम और ठंडी थी।

निकोल्का इन में से कई लोगों के नाम तक जानता था। वह पेत्का को उनके बारे में तरह-तरह के क़िस्से सुनाया करता था और खीसें निपोरता था। पेत्का हैरान होकर सोचता था कि निकोल्का कितना अक्लमंद और निडर है, कि कभी वह भी उसके जैसा बन जाएगा। पर अभी तो वह कहीं और चला जाना चाहता था ... बस यही एक ख़्वाहिश थी उसकी।

पेत्का के लिए सभी दिन बिल्कुल एक जैसे थे। जाड़ा हो या गर्मी, उसे बस वही शीशे देखने को मिलते थे, जिनमें से एक में बाल पड़ा हुआ था और दूसरा टेढ़ा था। गंदी सी, धब्बेदार दीवार पर वही एक ही तसवीर सदा टंगी रहती थी। सुबह, शाम, सारा दिन पेत्का के सिर पर एक ही कर्कश आवाज़ गूंजती थी: "छोकरे, पानी!" और वह पानी देता रहता था, देता रहता था। उसके लिए कोई छुट्टी या त्यौहार न थे। इतवार को जब दूसरी दुकानों में कोई रोशनी न होती, नाई की दुकान से रात गए तक सड़क पर तेज़ रोशनी गिरती रहती। वहां से गुज़रते लोग प्रायः दुकान के एक कोने में स्टूल पर गठरी

बनकर बैठे दुबले-पतले लड़के को देखते, जो न जाने किसी सोच में डूबा होता या ऊंघ रहा होता। पेत्का बहुत सोता था; तो भी उसे हर समय नींद आती रहती थी और प्रायः ऐसा लगता था कि उसके चारों ओर जो कुछ भी है वह सच्चाई न होकर एक लंबा, अप्रिय सपना मात्र ही है। अक्सर उससे पानी बिखर जाता, उसे "छोकरे, पानी!" की कर्कश चीख ही सुनाई न देती। वह सूखता जा रहा था और उसके मुंडे सिर पर पपड़ी सी जमने लगी थी। ग्राहक इस दुबले-पतले लड़के को घिन से देखते थे, जिसकी आंखों में सदा नींद भरी रहती, मुंह अधखुला होता और गर्दन व हाथ बेहद गंदे। आंखों के पास और नाक के तले बारीक-बारीक झुर्रियां बन गई थीं, मानो नुकीली सुई से बना दी गई हों और इनके कारण वह बूढ़ा हो गया बौना सा लगता था।

पेत्का नहीं जानता था कि वह यहां ऊबता है या खुश है, पर उसका मन कहीं और चले जाने को होता था। उस जगह के बारे में वह कुछ नहीं कह सकता था कि वह कहां है और कैसी है। जब उसकी मां, नादेझ्दा बावर्चिन उससे मिलने आती, तो वह बिना किसी चाव के मां की दी मिठाई खा लेता, उससे किसी बात की शिकायत न करता, बस इतना ही कहता कि वह उसे यहां से ले जाए। पर जल्दी ही वह अपना यह अनुरोध भी भूल जाता, अनमना सा मां को नमस्ते करता और इतना तक न पूछता कि वह फिर कब आएगी। नादेझ्दा यह सोचकर दुखी होती कि उसके एक ही बेटा है, और वह भी भोंदू है।

पेत्का को कुछ पता नहीं था कि वह कितने दिनों तक यों ही जीता रहा। एक दिन दोपहर के खाने के समय मां आई, उसने ओसिप अब्रामविच से बातें कीं और बेटे से कहा कि उसे दाचा* जाने की छुट्टी मिल गई है। यह दाचा त्सरीत्सिनो** में था और वहां नादेझ्दा के मालिक रहते थे। पहले तो पेत्का

---

* शहर के बाहर रमणीय ग्रामीण इलाक़े में स्थित घर, जहां नगरवासी गर्मियों में रहते और आराम करते हैं। – अनु०

** मास्को से थोड़ी दूर स्थित एक सुन्दर स्थल। १७७५-१७८५ में यहां एक महल बनाया गया था। १७८५ में ज़ारनी येकातेरीना द्वितीया ने पहला महल तोड़कर नया बनाने का आदेश दिया। नये महल का निर्माण पूरा नहीं हुआ और अब यहां खण्डहर ही बचे हुए हैं। – सं०

कुछ समझा नहीं पर फिर निश्शब्द हंसी से उसका चेहरा बारीक-बारीक झुर्रियों से भर गया और वह मां से जल्दी करने को कहने लगा। नादेझ्दा को अभी शिष्टाचार के नाते ओसिप अब्रामविच से उसकी पत्नी का हालचाल पूछना था, पर पेत्का उसे धीरे-धीरे दरवाज़े की ओर धकेल रहा था और बांह खींच रहा था। वह नहीं जानता था कि यह दाचा क्या होता है, पर उसका ख़्याल था यह वही जगह है, जहां जाने का उसका इतना मन था। अपनी ख़ुशी में वह निकोल्का को भूल ही गया। निकोल्का जेबों में हाथ डाले पास ही खड़ा था और सदा की तरह ढिठाई से नादेझ्दा की ओर देखने की कोशिश कर रहा था। पर उसकी आंखों में ढिठाई की जगह गहरा विषाद था : उसके मां थी ही नहीं, और इस क्षण वह इस मोटी नादेझ्दा जैसी औरत को भी मां मानने को तैयार था। बात यह थी कि वह भी कभी दाचा नहीं गया था।

स्टेशन पर ख़ूब चहल-पहल और भीड़-भड़क्का था। आती-जाती रेलगाड़ियां घड़घड़ा रही थीं, इंजन सीटियां बजा रहे थे – किसी की आवाज़ ओसिप अब्राम-विच जैसी भारी और ग़ुस्से भरी थी और किसी की उसकी बीमार पत्नी जैसी चिचियाती हुई और पतली। सवारियां उतावली सी इधर-उधर आ जा रही थीं, लगता था उनका यह सिलसिला कभी ख़त्म ही न होगा। पेत्का यह सब आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा था – वह पहली बार स्टेशन पर आया था। उसके मन में एक विचित्र अधीरता और अकुलाहट भर रही थी। मां को और उसे भी डर लग रहा था कि कहीं गाड़ी छूट न जाए, हालांकि गाड़ी जाने में अभी आधे घंटे से भी ज़्यादा समय था। आख़िर जब वे डिब्बे में बैठ गए और गाड़ी चल दी, तो पेत्का खिड़की से चिपक गया। बस उसका मुंडा हुआ सिर ही पतली गर्दन पर इधर-उधर घूम रहा था, मानो वह लोहे के स्प्रिंग पर लगा हुआ हो।

पेत्का का जन्म शहर में हुआ था और वहीं पर वह बड़ा हुआ। ज़िंदगी में पहली बार वह खेत-मैदान देख रहा था और यहां सब कुछ उसके लिए नया, आश्चर्यजनक और अजीब था। यहां चारों ओर इतनी दूर-दूर तक दिखाई देता था, जंगल घास जैसा लगता था और आसमान भी इस नए संसार में इतना साफ़ और इतना बड़ा था, मानो वह छत पर चढ़कर उसे देख रहा हो। पेत्का

अपनी ओर से उसे देख रहा था और जब वह मां की ओर सिर मोड़ता, तो सामने की खिड़की से भी उसे नीला आकाश नज़र आता और उस पर तैरते सफ़ेद बादल दिखते। पेत्का कभी अपनी खिड़की के पास कुलबुलाता रहता, कभी भागकर डिब्बे के दूसरी ओर चला जाता, सहज भाव से अपना जैसे-तैसे धोया हाथ दूसरे मुसाफ़िरों के घुटनों और कंधों पर रखता जाता और वे जवाब में मुस्करा देते। एक साहब ने, जो अख़बार पढ़ रहा था और न जाने बेहद थके होने के कारण या ऊब के मारे बराबर जंभाइयां ले रहा था, दो-एक बार लड़के की ओर तिरछी नज़रों से देखा। नादेभ्दा फ़ौरन माफ़ी मांगने लगी :

"पहली बार गाड़ी पर जा रहा है न ... सब कुछ नया है इसके लिए ..."

"हुं," साहब ने बुदबुदा कर नज़रें अख़बार में गाड़ लीं।

नादेभ्दा का बड़ा मन था कि उसे यह बताए कि पेत्का तीन साल से नाई की दुकान पर काम कर रहा है और नाई ने उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का वायदा किया है और यह बहुत ही अच्छा होगा, क्योंकि वह अबला बिल्कुल अकेली है और उसका बीमारी में या बुढ़ापे में यही एक सहारा है। पर साहब का चेहरा सख़्ती भरा था और नादेभ्दा ने यह सब मन ही मन कह डाला।

रास्ते के दाईं ओर छोटे-छोटे ढूहों वाला मैदान था, जो नमी की वजह से गाढ़े हरे रंग का था। उसके सिरे पर मटमैले से मकान बने हुए थे, दूर से वे खिलौनों जैसे लगते थे। आगे ऊंचे, हरे टीले पर, जिसके नीचे रजत जल धारा चमचमा रही थी, खिलौने सा ही सफ़ेद गिरजा बना हुआ था।

जब रेलगाड़ी अचानक तेज़ हो गई घड़घड़ाहट के साथ पुल पर चढ़ गई और मानो दर्पण सी नदी के ऊपर हवा में टंग गई, तो पेत्का सहसा डर के मारे कांप उठा और झटककर खिड़की से पीछे हट गया, लेकिन पल भर में ही फिर खिड़की के पास जा पहुंचा, कि कहीं रास्ते का कोई नज़ारा उसकी नज़रों से बचा न रह जाए। पेत्का की आंखों में अब उनींदापन न रहा था और झुर्रियां भी ग़ायब हो गई थीं, मानो किसी ने इस चेहरे पर गर्म इस्तरी फेरकर झुर्रियां दूर कर दी हों और उसे सफ़ेद व चमकीला बना दिया हो।

दाचा पर पहले दो दिन तो पेत्का को जंगल से डर लगता रहा, जो उसके सिर के ऊपर धीर-गम्भीर सा शोर करता था। अंधेरा जंगल विचारमग्न सा

और भयावह लगता था। जंगल के बीच में छोटे-छोटे हरे-भरे मैदान मानो अपने चटकीले फूलों में हंसते थे, गाते थे और पेत्का को बड़े अच्छे लगते थे, वह उन्हें सहलाना चाहता था। गाढ़ा नीला आकाश उसे अपनी ओर बुलाता, मुस्कराता लगता था। पेत्का उद्विग्न हो उठता, कांपता, पीला पड़ जाता और मुस्कराने लगता। बूढ़ों की तरह धीरे-धीरे चलता हुआ वह जंगल के बाहर-बाहर और तालाब के झाड़ीदार किनारे पर घूमता रहता। यहीं पर वह थककर घनी नम घास पर गिर पड़ता और उसमें समा जाता, बस उसकी छोटी सी चित्तीदार नाक हरी सतह के ऊपर निकली होती। पहले दिनों में वह अक्सर मां के पास लौट आता था, उसका दामन पकड़ता रहता था और जब साहब उससे पूछते कि क्या दाचा पर उसे अच्छा लग रहा है, तो वह सकपका जाता और मुस्कराता हुआ सिर हिला देता।

और फिर वह विकट वन तथा शांत जल की ओर चला जाता। वहां घूमता हुआ वह मानो उनसे कुछ पूछता रहता।

दो दिन और बीतते न बीतते पेत्का का प्रकृति के साथ पूर्ण सामंजस्य हो गया। ऐसा त्सरीत्सिनो के एक स्कूल छात्र मीत्या के सहयोग से हुआ। मीत्या का संवलाया चेहरा पीलापन लिए था, सिर के बाल खड़े रहते थे। धूप से उसके सुनहरी बालों का रंग इतना उड़ गया था कि वे सफ़ेद लगते थे। पेत्का ने जब पहली बार उसे देखा तो वह मछली पकड़ रहा था। पेत्का बेझिझक उससे बातें करने लगा और जल्दी ही वे घुलमिल गए। मीत्या ने पेत्का को एक बंसी पकड़ने को दी और उसे दूर कहीं नदी में नहलाने ले गया। पेत्का को पानी में घुसते हुए डर लग रहा था, पर जब वह घुस गया, तो फिर बाहर नहीं निकलना चाहता था। नाक-भौं ऊपर उठाकर, पानी पर हाथ मारते हुए वह ऐसे दिखा रहा था, मानो तैर रहा हो। इन क्षणों में वह बिल्कुल ऐसा पिल्ला लगता था, जो पहली बार पानी में घुसा हो। आखिर जब पेत्का ने कपड़े पहने तो उसका बदन ठंड से नीला पड़ गया था और दांत किटकिटा रहे थे। मीत्या को हमेशा कुछ न कुछ सूझता रहता था। उसी के सुझाव पर वे महल के खंडहर देखने गए। महल की छत पर चढ़ गए, जहां बहुत सारे पेड़ उग आए थे, विशाल महल की ढह गई दीवारों के बीच घूमते रहे। वहां उन्हें बहुत अच्छा लग रहा

था : जगह-जगह पर पत्थरों के ढेर लगे हुए थे, जिन पर मुश्किल से चढ़ा जा सकता था और उनके बीच पेड़-पौधे उग रहे थे, पूर्ण निस्तब्धता थी और लगता था कि बस अभी किसी कोने में से कोई निकल आएगा या खिड़की के टूटे-फूटे झरोखे में से कोई डरावना चेहरा दिखाई देगा। धीरे-धीरे पेत्का को दाचा पर ऐसा लगने लगा, मानो वह अपने ही घर रह रहा हो और वह यह भूल ही गया कि दुनिया में ओसिप अब्रामविच और नाई की दुकान का भी अस्तित्व है।

"देखो तो, कितना मोटा हो गया है!" नादेभ्दा ख़ुश होती। वह ख़ुद भी काफ़ी मोटी थी और रसोईघर की गर्मी से उसका चेहरा तांबे के समोवार की तरह लाल हो गया था।

नादेभ्दा सोचती थी कि पेत्का को खाना अच्छा मिलता है। परंतु वास्तव में पेत्का बहुत कम ही खाता था इसलिए नहीं कि उसे भूख नहीं लगती थी, बल्कि इसलिए कि कौन इतना झंझट करे : अगर चबाए बिना ही खाना निगाला जा सकता, तो बात और थी, पर यहां तो चबाना पड़ता था और बीच-बीच में ख़ाली बैठे टांगें हिलानी पड़ती थीं, क्योंकि नादेभ्दा बहुत ही धीरे-धीरे खाना खाती थी, हड्डियां चूसती थी, एप्रन से मुंह पोंछती थी और बेकार की बातें करती जाती थी। उधर पेत्का को न जाने कितने काम थे : पांच बार तो नहाने जाना चाहिए, फिर झाड़ियों से बंसी के लिए डंडियां काटनी होती हैं, केंचुए ढूंढ़ने होते हैं – इस सब के लिए भी तो वक़्त चाहिए। अब पेत्का नंगे पैर घूमता था, यह मोटे तलवे वाले, घुटनों तक ऊंचे बूट पहने फिरने से कहीं अच्छा था : खुरदरी ज़मीन से कहीं पैरों में मीठी जलन होती और कहीं ठंडक पहुंचती थी। पेत्का अब उसे मिली पुरानी जैकट भी नहीं पहनता था, जिसमें वह नाई की दुकान का बड़ा शागिर्द लगता था। शाम को जब वह साहब लोगों को नावों में सैर करते देखने के लिए बांध पर जाता था, तभी जैकट पहनता था। सजे-धजे साहब लोग हंसते हुए हिलती-डुलती नाव में बैठते और वह धीरे-धीरे निर्मल जल को चीरती हुई बढ़ जाती, जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष डोलने लगते, मानो हवा का झोंका आया हो।

उसी सप्ताह के अंत में साहब "बाबरचीन नादेभ्दा" के नाम पत्र लाए और जब उन्होंने उसे पढ़कर सुनाया तो वह रोने लगी और एप्रन पर लगी

कालिख सारे चेहरे पर पोत ली। इस सबके साथ उसके मुंह से निकले कुछ शब्दों से यह अनुमान लगाया जा सकता था कि चर्चा पेत्का की है। यह सब संध्या समय हुआ। पेत्का पीछे के आंगन में इक्कल-दुक्कल खेल रहा था और ग़ाल फुला रहा था, क्योंकि इस तरह कूदना काफ़ी आसान लगता था। स्कूल छात्र मीत्या ने उसे यह निकम्मा, पर दिलचस्प खेल सिखाया था, और अब पेत्का पक्के खिलाड़ी की तरह अकेले में अभ्यास कर रहा था। साहब ने बाहर आकर उसके कंधे पर हाथ रखा और कहा:

"क्यों भई, जाना होगा।"

पेत्का सकपकाया सा मुस्करा रहा था, बोल कुछ नहीं रहा था।

"है न भोंदू!" साहब ने सोचा।

"तूझे जाना होगा।"

पेत्का मुस्कराए जा रहा था। नादेझ्दा आंसू बहाती आई और उसने मालिक की बात की पुष्टि की:

"बेटा, तुझे जाना पड़ेगा।"

"कहां?" पेत्का हैरान हो गया।

नगर को वह भूल ही चुका था और दूसरी जगह, जहां वह सदा जाना चाहता था, उसे मिल चुकी थी।

"मालिक, ओसिप अब्रामविच के पास।"

पेत्का अभी भी नहीं समझ रहा था, हालांकि बात बिल्कुल साफ़ थी। उसका मुंह सूख गया, जीभ मुश्किल से चल रही थी, जैसे-तैसे उसने पूछा:

"पर कल मछली कौन पकड़ेगा? यह देखो – बंसी ..."

"क्या किया जाए!.. ओसिप अब्रामविच का हुक्म है। कहते हैं प्रकोपी बीमार पड़ गया, अस्पताल में दाख़िल किया है उसे। काम करनेवाला कोई नहीं। तू रो मत, शायद फिर छुट्टी दे दे – आदमी तो भला है ओसिप अब्रामविच।"

पर पेत्का रोने की सोच ही नहीं रहा था, वह कुछ समझ नहीं पा रहा था। फिर धीरे-धीरे पेत्का के दिमाग़ में सारी बात साफ़ होने लगी। और तब उसने मां को आश्चर्यचकित कर दिया, मालिकों को परेशानी में डाल दिया: वह दुबले-पतले शहरी बच्चों की तरह नहीं रोया, वह तो दहाड़ें मारने लगा,

ज़मीन पर लोटने लगा। उसके पतले से हाथ की मुट्ठी भिंच गई और वह मां के हाथों पर, ज़मीन पर, जो कुछ भी सामने पड़ता, उसी पर मुट्ठियां मारने लगा, कंकड़ों-पत्थरों से उसके हाथों में दर्द हो रहा था, पर वह जैसे उसे और भी तेज़ करना चाहता था।

आख़िर पेत्का शांत हो गया। मालकिन दर्पण के सामने खड़ी बालों में सफ़ेद गुलाब लगा रही थीं और साहब कह रहे थे :

"देखा तुमने, चुप हो गया – बच्चों का दुख यही दो पल का होता है।"

"पर मुझे बड़ा तरस आता है इस बेचारे पर।"

"हां सच ही बड़े बुरे हालात में रहते हैं ये लोग, पर ऐसे भी लोग हैं, जिनकी ज़िंदगी इनसे भी बदतर है। तुम तैयार हो?"

वे दिप्मान बाग़ को चल दिए, जहां उस शाम को नाच होनेवाले थे और फ़ौजी बैंड बजने लगा था।

दूसरे दिन सुबह सात बजे की गाड़ी से पेत्का मास्को जा रहा था। फिर से उसकी आंखों के सामने हरे-भरे खेत गुज़र रहे थे, जो रात में पड़ी ओस से रुपहले लग रहे थे। पर अब ये खेत-मैदान पहले की दिशा में नहीं, बल्कि उससे विपरीत दिशा में बढ़ रहे थे। पेत्का का दुबला-पतला शरीर स्कूल छात्र की पुरानी जैकट में लिपटा हुआ था, उसके गरेबान में से सफ़ेद सूती कालर दिख रहा था। पेत्का हिल-डुल नहीं रहा था और खिड़की में भी प्रायः नहीं देख रहा था। वह चुपचाप बैठा हुआ था – पतले-पतले हाथ घुटनों पर रखे हुए थे। आंखें उनींदी और उदासीन थीं, आंखों के पास और नाक तले बारीक-बारीक झुर्रियां पड़ी हुई थीं। खिड़की के पास से खंभे और प्लेटफ़ार्म की कड़ियां गुज़रीं और फिर गाड़ी रुक गई।

उतावले मुसाफ़िरों के बीच धक्का-मुक्की करते वे गड़गड़ाती सड़क पर निकले और विराट भूखे शहर ने अनमने भाव से अपने नन्हे शिकार को हड़प लिया।

"मेरी बंसी छिपा देना!" मां जब उसे नाई की दुकान तक ले आई, तो पेत्का बोला।

"छिपा दूंगी, बेटा, छिपा दूंगी। देखो, फिर आ ही जाए तू।"

फिर से गंदी और उमस भरी नाई की दुकान में कर्कश चीख गूंजती : "छोकरे, पानी!" और ग्राहक देखता कि शीशे की ओर मैला सा हाथ बढ़ता और साथ ही उसे धमकी भरी बुदबुदाहट सुनाई देती : "ज़रा ठहर, बच्चू!" इसका मतलब यह होता कि उनींदे छोकरे ने पानी बिखेर दिया या हुक्म ठीक से नहीं समझा। रात को जहां निकोल्का और पेत्का पास-पास सोते थे, एक पतली सी, मंद-मंद, उद्विग्न आवाज़ दाचा के बारे में बताती, ऐसी-ऐसी बातें सुनाती, जो कभी नहीं होतीं, जैसा किसी ने कभी देखा ही नहीं और न सुना ही है। फिर चुप्पी छा जाती और सन्नाटे में बाल छातियों से निकलती उखड़ी-उखड़ी सांसें सुनाई देतीं और एक दूसरी आवाज़, जो बच्चे की होते हुए भी रूखी और तीखी थी, कहती :

"शैतान कहीं के! सत्यानास हो इनका!"

"कौन शैतान?"

"कोई नहीं ... सभी।"

माल से लदी घोड़ागाड़ी पास से गुज़रती और उसकी घड़घड़ाहट में लड़कों की आवाज़ें खो जातीं।